International Journal of Sanskrit Research 2021; 7(1): 10-12

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2021; 7(1): 10-12
© 2020 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 13-11-2020
Accepted: 17-12-2020

सन्दीप कुमार गुप्ता
शोधच्छात्र, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, मध्य प्रदेश, भारत

Corresponding Author:
सन्दीप कुमार गुप्ता
शोधच्छात्र, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर, मध्य प्रदेश, भारत

नैषध में गुणौचित्य नियोजन

सन्दीप कुमार गुप्ता

प्रस्तावना

काव्यनिर्माता स्वकीय सदृदयता तथा रचनाकौशल के माध्यम से अपनी रचना में वर्णित कथावस्तु को अत्यन्त ही रमणीय बना देता है संस्कृत–साहित्य के कवियों की तो ये परम्परा ही रही है कि वे अपनी कृति में अत्यन्त नीरस विषयवस्तु का भी वर्णन करते समय अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर इस प्रकार से चित्रित कर देते हैं कि उस काव्य के पाठक अथवा श्रोता के मानसिकचक्षु के समक्ष उस वस्तु का अत्यन्त ही आकर्षक स्वरूप उपस्थित हो जाता है।

जिस प्रकार से लौकिक वस्तुओं की सौन्दर्य–क्षमता उसके बाह्य स्वरूप के माध्यम से परिलक्षित होती है बाह्य आकृति को देखकरके ही उसके सौन्दर्य अथवा विकृति का ज्ञान होता है उसी प्रकार काव्य की रमणीयता भी उसके स्वरूप का अवलोकन करने पर ही दृष्टिगत होती है। काव्य में रमणीयता का आधान करने हेतु उसके स्वरूप को दो प्रकार से वर्णित किया जा सकता है– बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप। काव्य के बाह्य स्वरूप के अन्तर्गत शब्द तथा अर्थ को आधार बनाया जा सकता है जिसके अन्तर्गत गुण, रीति, अलंकार आदि का समावेश किया जा सकता है जबकि आन्तरिक स्वरूप के अन्तर्गत गुण, रीति एवं अलंकार के माध्यम से परिवर्धित जो परमतत्व है, जो परमानन्द सहोदर है, जिसे काव्यात्मतत्व के रूप में निरूपित किया गया है ऐसे रस, भावादि को परिगणित किया जा सकता है।

बृहत्त्रयी में परिगणित प्रमुखतम महाकाव्य, मकाकवि श्रीहर्ष विचरित 'नैषधीयचरितम्' मे पदे–पदे कविप्रतिभोत्थित औचित्य निदर्शन समाविष्ट दिखायी पड़ता है। पदलालित्य के लिए महाकवि माघ अति–विख्यात् हैं तथा अर्थगौरव के लिए महाकवि भारवि, किन्तु महाकवि श्रीहर्ष द्वारा नैषधीयचरितम् महाकाव्य की रचना करने के उपरान्त यह कहा जाने लगा कि 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।' इस कथन से स्पष्ट रूप से यह ध्वनित होता है कि नैषधमहाकाव्य में महाकवि माघ विरचित शिशुपालवधम् से अत्यधिक उच्चकोटि का पदलालित्य प्रयोग एवं अर्थगम्भीरता की दृष्टिसे उन्होंने महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीयम् का अतिक्रमण कर दिया है।

महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषधीयचरितम् में रसों एवं अलंकारों के अनुकूल ही काव्यगुणों का सन्निवेश किया है जिसे हम गुणौचित्य कह सकते हैं अनेक स्थलों पर तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन करते समय उचित अवस्था के अनुसार ही अनुकूल वर्णों से युक्त गुणाधान किया गया है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र के रचनाकारों ने 'गुण'को परिभाषित करते हुए अपने विचारों में भिन्नता प्रकट की है। आचार्य वामन ने काव्य के शोभा उत्पादक धर्म को गुण की संज्ञा से अभिहित

किया है – ''काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः''[1]। वे कहते हैं कि 'काव्यरूप शब्द एवं अर्थ के नैसर्गिक सौन्दर्य का विधान गुण के विना सम्भव नहीं है। शब्द तथा अर्थ–स्वभाव का ज्ञान उपमादि नहीं करा सकते। उपमादि काव्यगुण को दीप्त करने के साधन हैं काव्य के नैसर्गिक धर्म नहीं।'

आचार्य आनन्दवर्धन भी गुण के स्वरूप तथा स्वभाव को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि – 'तमर्थमवलम्बन्ते येऽंगिनं ते गुणाः स्मृताः।[2] अर्थात् जो उस प्रधानभूत अङ्गी (रस) के आश्रित रहते है।' वे गुण हैं। आचार्य मम्मट गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि –

'ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इव आत्मनः।[3]
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।'

अर्थात् जो काव्य के अंगी रस के धर्म हैं आत्मा में विद्यमान शौर्यादि की भांति अनिवार्य धर्म की तरह निश्चल भाव से रहते हुए रसोत्कर्ष के हेतु बनते हैं, गुण कहलाते हैं।

गुणों को काव्य के अन्य तत्वों–रीति, अलंकार आदि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है इसे काव्य का स्थिर धर्म बताया गया है क्योंकि बिना इस गुणात्मक प्रकृति के काव्य की सत्ता सम्भव नहीं है। सामान्यतया गुण काव्यभाषा के नैसर्गिक ऐश्वर्य हैं ये जितने ही अकृत्रिम एवं सहज रूप से काव्य में आविष्ट होकर अवतरित होंगे, काव्य की रमणीयता उतनी ही उत्कृष्ट होगी। मुख्यतया काव्यशास्त्रियों ने गुणों की संख्या 'तीन' ही स्वीकार की है– 'त्रयस्ते न पुनर्दश।'[4]

महाकवि श्रीहर्ष ने अपनी अमरकृति, बृहत्त्रयी में प्रमुख स्थान प्राप्त 'नैषधीयचरितम्' मे विभिन्न प्रसंगों पर यथावसर, समुचित अर्थो के अनुरूप गुणाधान करते हुए रसात्मकता को चरमोत्कृष्टता प्रदान किया है जिनका वर्णन निम्नलिखित रूप में किया जा रहा है–

ओजगुणौचित्य – ओजगुण के सम्बन्ध में 'भरतमुनि' का कथन है कि – 'समासबहुल, विचित्र, उदार, अर्थयुक्त तथा परस्पर अर्थो से संवलित रचना ओजगुणयुक्त होती है।' आचार्य दण्डी ओजगुण के विषय में कहते हैं कि– 'ओजः समासभूयस्त्वम्।' अर्थात् 'समास की आधिकता ओजगुण है।' आचार्य वामन ओजगुण के बारे में उल्लिखित करते हैं कि – 'गाढबन्धत्वमोजः – अर्थात् अक्षरविन्यास की संश्लिष्टता से उत्पन्न बन्ध की सघनता ही 'ओज' है।' रसात्मकता की वृद्धि करने वाले गुणों का अर्थो के अनुरूप समुचित प्रयोग को ही आचार्य क्षेमेन्द्र गुणौचित्य बताते हुए कहते हैं कि – 'प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभग्यवान् गुणः।'[5] अर्थात् 'प्रस्तुत अर्थो के अनुरूप ओज, प्रसादादि गुण काव्य में सुन्दर तथा चरितार्थ होकर आनन्द को प्रवाहित करते हैं।' ओजगुण का औचित्यपूर्ण प्रदर्शन नैषधीयचरितम् में निम्नलिखित उदाहरणों के माध्यम से द्रष्टव्य है–

''स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।[6]
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गामिवायशः परे।।''

अर्थात् 'शताधिक (असंख्य) शत्रु संग्राम में स्फुरित होते, टङ्कारते धनुष से उस नल के द्वारा छोड़े गये बाणों की असह्य वर्षा के कारण बुझे स्वकीय तेज रूप अग्नि के अंगारों सदृश अयश का विस्तार करते थे।'

उपर्युक्त श्लोक में महाराज नल के शत्रुओं के निश्चित पराजय और नल के अद्भुत धनुर्धारी होने का भाव है वीर रसान्वित भाव को उद्घाटित करने वाले इस प्रसङ्ग में महाकवि श्रीहर्ष परुष वर्णो द्,ध्,ग्,घ्,भ्,श् आदि का ओजस्वितापूर्ण प्रयोग करते हुए ओजगुण का औचित्यपूर्ण सन्निवेशन किया है।

अन्यत्र, नल के घोड़े के वेग का वर्णन करते हुए महाकवि श्रीहर्ष का वर्णसंयोजन दर्शनीय है–

'अजस्रभूमीतट्कुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।[7]
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः।।'

यहां इस पद्य में राजा नल के अश्वों की अत्यन्त ओजस्वितापूर्ण वेगक्रिया का वर्णन किया गया है घोड़े के इस पराक्रमपूर्ण–वर्णन प्रसंग में महाकवि श्रीहर्ष ने ओजगुण को ध्वनित कराने वाले ट्वर्ग आदि का भूरिशः प्रयोग किया है जिससे वीर रस की उत्कृष्टता परिलक्षित होती है अतः यहाँ ओजगुण का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया गया है।

प्रसादगुणौचित्य – काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने प्रसादगुण को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिस (शब्द, समास या रचना) के द्वारा श्रवण मात्र मे शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाये, वह, सब (शब्दों, समासों, रचनाओं) में रहने वाला प्रसाद–गुण माना जाता है–

'श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।[8]
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।'

महाकवि श्रीहर्ष विरचित 'नैषधमहाकाव्य में आद्यन्त श्रृंगारादि विभिन्न प्रसंगों पर प्रसाद गुण का भूरिशः प्रयोग दृष्टिगत होता है इस प्रबन्ध के प्रथम सर्ग में महाराज नल के महिमा को व्याख्यायित करते हुए महाकवि कहते हैं कि–

''यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।[9]
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ।।''

अर्थात् 'इस (नल) की (विजयार्थ) यात्राओं में सेना के द्वारा उड़ायी गयी स्फुरित होते प्रतापरूपी अग्नि के धूम के समान मनोहारिणी जो धूल थी वही जाकर क्षीरसागर में गिरी और कीचड़ बनकर चन्द्र में कृष्णचिह्न हो गयी।'

उपर्युक्त श्लोक के अवलोकन मात्र से ही उसके अर्थ की प्रतीति भी त्वरित रूप से हो जाती है, सामासिक पदों का अभाव परिलक्षित होता है। परुष वर्णों का भी अपवर्जन हुआ है अतः यह प्रसादगुण का उपयुक्त उदाहरण है।

अन्यत्र राजा नल के ऐश्वर्य तथा नववयता को वर्णित करते हुए महाकवि कहते हैं कि–

'जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम्।[10]
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गतथास्य यौवनम्।।'

अर्थात् 'जिसकी बाल्यावस्था अभी शेष है ऐसे इस (नल) ने जगत् विजय करके अपने कोश को अक्षय बना दिया तथा जैसे रतिपति कामदेव का सखा ऋतु वसन्त वन में रमणीय छटा लिए आता है वैसे ही यौवन ने इसके शरीर का आलिङ्गन किया है।'

उपर्युक्त पद्य में अल्पसामासिक पदों का प्रयोग किया गया है, जिसके पठन मात्र से अर्थ ध्वनित हो जाता है अतः हम कह सकते हैं कि महाकवि ने प्रसादगुण का औचित्यपूर्ण प्रणयन किया है।

माधुर्यगुणौचित्य – शृंगारादि रस आनन्दस्वरूप है इनके भीतर एक विशेष प्रकार की आनन्दमयता होती है जिसके कारण सहृदयजनों का चित्त द्रवित हो जाता है। शृंगारादि रस कहीं कम, तो कहीं अधिक मधुर कहे जाते हैं यह माधुर्य केवल शृंगार (संभोग शृंगार) में ही नहीं रहता अपितु करुण, विप्रलम्भ तथा शान्त रस में भी रहा करता है।

भाव भंगिमा द्वारा उत्कृष्ट अर्थ को ध्वनित करने के कारण माधुर्य गुण विशेष आकर्षक होता है। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि – 'वह भावमयी आह्लाद जिससे चित्त द्रवित हो उठे, माधुर्य कहलाता है'–

'चित्तद्रवीभावमयोऽऽह्लादो माधुर्यमुच्यते।'[11]

नैषधीयचरितम् महाकाव्य में आद्यन्त माधुर्य गुण का प्रसार परिलक्षित होता है। प्रथम सर्ग में राजा 'नल' के विरहावस्था का वर्णन करते हुए महाकवि कहते हैं कि –

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्। [12]
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः।।

यहाँ इस श्लोक में 'भृङ्ग', हुङ्कृतैः' में गकार एवं ककार अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण ङकार से युक्त है तथा 'उदञ्चत्' एवं 'पद्मिनी' में चकार और दकार भी ञकार, नासिक्य मकार से संयुक्त है पद्य के चारों चरणो में र्, ल्, न्, म् आदि कोमल वर्णों का भी प्रयोग है ये सम्पूर्ण वर्ण–समुदाय माधुर्यगुण के व्यञ्जक माने–जाते हैं।

अन्यत्र भी माधुर्य का प्रदर्शन निम्नलिखित प्रकार से द्रष्टव्य है–

'तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा विभराम्बभूव यः।[13]
तदोद्गतै कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः।।

उपर्युक्त पद्य में महाकवि तालाब की मनोहरता को प्रदर्शित करते हुए समस्त पदों में सुकोमल वर्णों का समिवेश किया गया है माधुर्यगुण को व्यञ्जित करने वाले पञ्चम वर्ण ङकार अपने वर्ग के क् एवं ग् से तथा मकार ब् से तथा ञकार च् वर्ण से संयुक्त है।

नैषधीयचरितम् महाकाव्य के उपर्युक्त श्लोकों के विवेचन से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि महाकवि ने शृंगार, करुण आदि रसों में प्रसङ्गानुकूल वृत्त का वर्णन करते समय, सहृदयों को विषय–वस्तु का सहज ज्ञान कराने हेतु, काव्य को रमणीयता प्रदान करने वाले माधुर्यादि गुणों का पूर्णतया औचित्यपूर्ण सन्नियोजन किया है। महाकवि के अपनी बौद्धिक क्षमता से निःसृत इस प्रकार के औचित्य–योजना से सम्पूर्ण नैषधमहाकाव्य रमणीय बन गया है।

संदर्भ

1. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति – वामन, 3/1/1
2. ध्वन्यालोक – आनन्दवर्धन, 2/6,
3. काव्यप्रकाश – आचार्य मम्मट, अष्टम उल्लास, कारिका – 66
4. काव्यप्रकाश – आचार्य मम्मट, अष्टम उल्लास
5. औचित्यविचारचर्चा – रमाशंकर त्रिपाठी, कारिका – 14, पृ. –37
6. नैषधीय0 – 1/9 डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, पृ0–12
7. नैषधीय0 – 1/59 डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, पृ0–55
8. काव्यप्रकाश – आचार्य विश्वेश्वर, अष्टम उल्लास, पृ. –394
9. नैषधीय0 1/8 डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, पृ.–11
10. नैषधीय0 1/19 डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, पृ.–23
11. साहित्य दर्पण – आचार्य विश्वनाथ – 8/3
12. नैषधीय0 1/88 डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, पृ.79
13. नैषधीय0 1/112, डॉ. देवर्षि सनाढ्य शास्त्री, पृ.98